

भारतीय दर्शन में कर्म की अवधारणा

डॉ. अरुण कुमार सिंह*

भारतीय विचारधारा प्रभाव से ही कर्मवाद की प्रबल समर्थक रही है। ऋग्वेद में हम ऋत का वर्णन पाते हैं। ऋत इस जगत में पायी जाने वाली नैतिक व्यवस्था का नाम है। जगत में सबसे पहले ऋत ही उत्पन्न हुआ है। सत्य की उत्पत्ति उसके बाद में हुई।¹ इस नैतिक व्यवस्था का अर्थ है, प्रत्येक व्यक्ति कर्म करने के लिए स्वतंत्र है। उसे अपने कर्मों के अनुरूप ही फल प्राप्त होते हैं। इस ऋत को हम आधुनिक काल के प्रकृति की एकरूपता (Uniformity of Nature) का सूक्ष्म रूप कह सकते हैं।

कर्म के तीन रूप हैं – संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण। अतीत में जो कर्म किये गये, वे खत्म नहीं होते, उनका प्रभाव जमा हो जाता है। ये कर्म से ही संचित कहे जाते हैं। संचित कर्म ऐसे कर्म हैं जिनका फल मिलना अभी प्रारम्भ नहीं हुआ। अतीत कालीन वे कर्म जिनका फल मिलना प्रारम्भ हो चुका है, प्रारब्ध कर्म कहते हैं। क्रियमाण कर्म वे हैं जो वर्तमान समय में किये जा रहे हैं। कालान्तर में ये कर्म संचित तथा प्रारब्ध का रूप ले लेंगे। कर्म का इतना अधिक महत्व है कि व्यक्ति का पुर्नजन्म का आधार भी कर्म ही होता है। व्यक्ति जिन माता-पिता, परिवार, समाज तथा समय में जन्म लेता है, वे सब उसके (प्रारब्ध) कर्मों के परिणाम होते हैं।²

भारतीय जनता का भाग्यवाद भी अपने मूल रूप में कर्मवाद पर आधारित है। भाग्य व्यक्ति द्वारा पूर्व जन्म में अर्जित कर्मों का ही फल होता है। व्यक्ति अपने पूर्व जन्म के कर्मों का फल ही नहीं भोगता, वह अपने कर्मों के द्वारा अपने भविष्य या भाग्य का निर्माण भी करता है। इसलिए भाग्यवाद निटल्लावाद नहीं है। हमें अपने कर्मों का फल किस तरह प्राप्त होता है। इस संदर्भ में दो मत हैं। एक मत ईश्वरवादी हैं जो कहता है कि ईश्वर वह शक्ति है जो प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्म के अनुसार फल प्रदान करती है। इसके विपरीत निरीश्वरवादी मत ईश्वर के अस्तित्व की कोई आवश्यकता अनुभव नहीं करता। उसके अनुसार प्रत्येक कर्म से एक शक्ति (अपूर्व) उत्पन्न होती है जो किसी भी तरह खत्म नहीं की जा सकती और इस कर्म-जन्म शक्ति के कारण प्रत्येक व्यक्ति को जो अपने कर्म का फल भोगना ही पड़ता है। मीमांसा मतवादियों का यही मत है।

*पूर्व शोध छात्र, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

इस तरह प्रत्येक व्यक्ति को कर्म की शक्ति को समझना चाहिए। भारतीय मत के अनुसार वास्तव में पूछा जाय तो व्यक्ति स्वयं अपना भाग्य विधाता है। इसलिए भगवद् गीता कहती है: –

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपोरात्मनः।³

भारतीय चिंतक अतीतकाल से ही कर्मवाद का पोषण रहा है। अथर्ववेद का मनीषी कहता है – “मैं स्वभावतः विजयशील हूँ। पृथ्वी पर मेरा उत्कृष्ट पद है। मैं विरोधी शक्तियों को परास्त कर समस्त विघ्न-बाधाओं को दबा कर प्रत्येक दिशा में सफलता पाने वाला हूँ।”⁴

ऐतरेय ब्राह्मण अपने “चरवेति” गीत में उद्घोषण करता है – “जो बैठा रहता है, उसका सौभाग्य बैठा रहता है। पर जब कोई खड़ा होता है तो उसका सौभाग्य भी खड़ा होता है। पड़े रहने वाले का सौभाग्य भी पड़ा रहता है तथा चलने वाले (कर्मरत) का सौभाग्य भी चलने लगता है। अतः कर्मशील बनो। सोने वाला कलि है, निद्रा से उठने वाला द्वापर, उठकर खड़ा हो जाने वाला त्रेता और कर्मरत व्यक्ति कृतयुग बन जाता है। अतः कर्मशील बनो।”

“कर्मशील व्यक्ति ही जीवन का मधु पाता है, वही सुस्वादु फल का आस्वादन करता है। सूर्य की ओर देखो, वह निरन्तर कर्मरत रहता है। अतः कर्मशील बनो।”⁵ कर्म करने में आलस्य ठीक नहीं। जो हो चुका है, अतीत है, उससे चिपके रहने में कोई सार नहीं और जो आने वाला है आगामी भविष्य है, उसका सपना देखते रहना भी ठीक नहीं, क्योंकि भविष्य का क्या ठिकाना? इसलिए आज पर ही भरोसा कर सामने वाले कर्म को सम्पादन करना बुद्धिमान व्यक्ति का कर्तव्य है। इसलिए शतपथ ब्राह्मण कर्म को इसी वक्त करने का परामर्श देता है।⁶

कर्म में विश्वास रखने वाले एक प्राचीन मनीषी को अपने कर्म पर इतना भरोसा था कि वह कहता था “मेरे दाहिने हाथ में पुरुषार्थ है और बायें हाथ में सफलता रखी है।”⁷ कालान्तर में कर्म की इस प्रवृत्ति को कर्मकाण्ड की कालिमा ने ग्रसित कर डाला। ब्राह्मण काल में कर्मकाण्ड का महत्व अधिक बढ़ गया। पुरोहितवाद प्रबल हो गया। यज्ञ के माध्यम से हिंसा तथा परिग्रहवाद पनपने लगे। स्वयं यज्ञ में यह प्रवृत्ति आरम्भ में नहीं थी। यज्ञ का अर्थ ही पवित्र कार्य है। इसलिए भागवद् गीता कहती है: यज्ञार्थ किये गये कर्म बन्धनकारी नहीं होते। पर अनाकारी, अज्ञानी तथा पाखण्डी पुरोहितों ने यज्ञ का अर्थ भी बदल डाला और विधि विधान से सम्पन्न यज्ञों को स्वर्ग के द्वार के रूप में सीमित कर दिया (स्वर्गकामो यज्ञेत)।

प्राचीन काल के विचारशील ऋषियों ने कर्मकाण्ड का विरोध किया। विरोध में भौतिकवादी चार्वाक दर्शन ही नहीं था (जिसमें वेद के कर्ताओं को “भंड निशाचर” तक कहा गया है।⁹ जैन दर्शन तथा बौद्ध दर्शन भी विरोधी स्वर के रूप में उभरे। पर सबसे संयत तथा तर्कपूर्ण विरोध किया उपनिषदों ने। कर्मकाण्ड के हिमायतियों को उपनिषदों ने आत्महंता कहा। मुण्डक तथा कठोपनिषद कर्मकाण्डवाद की तीव्र शब्दों में भर्त्सना करते हैं। दरअसल भारतीय तत्वज्ञों को कर्मकाण्ड की वृत्ति कभी नहीं रूची।¹⁰ महाभारतकार ने याज्ञित को मन्द्रप्रज्ञा का अविपश्चित (मूर्ख) तक कह डाला।¹¹ श्रीमद्भागवत ने उसका जड़ी, कृतिमति जैसे शब्दों से स्वागत किया।¹²

पर कर्मवाद का प्रांजल रूप उपनिषदों ने हमेशा स्वीकार किया है।¹³ मुण्डक ने घोषणा की “कर्मकाण्ड के द्वारा प्राप्त लोक नश्वर है। इस बात को जानने से ही ब्राह्मण के हृदय में निर्वेद का उदय होता है।”¹⁴ वृहदारण्यक का चिन्तक कहता है – “यह पुरुष काममय है। जैसे उसकी इच्छा है, वैसा ही उसका कृतु (संकल्प) होता है तथा संकल्प के अनुसार ही वह कर्म करता है।”¹⁵ मुक्तिकोपनिषद् लिखता है – “वासनारूपी नदी दो भागों में प्रवाहित होती है – शुभ मार्ग में तथा अशुभ मार्ग में। मनुष्य को चाहिए कि यह प्रयत्न द्वारा अशुभ में लगी वासना को शुभ मार्ग में ही ले जाये।”¹⁶

दार्शनिक सम्प्रदाय में कर्मवाद – जैन धर्म के अनुसार पृथ्वी, जल आदि की तरह कर्म भौतिक होता है। कर्म के आठ प्रमुख प्रकार हैं ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, आयुद्ध, नाम, गोत्र तथा अन्तराय। उमास्वाति के तत्वार्थ सूत्र में इन आठों के 144 भेदों का वर्णन किया गया है।¹⁷ जैन दर्शन चूंकि ईश्वर को नहीं मानता, इसलिए उसका स्पष्ट कथन है कि व्यक्ति को स्वयं अपने सत्कर्मा के माध्यम से अपने मोक्ष को प्राप्त करना है। मोक्ष की अवस्था में बन्धनकारी कर्मों का क्षय हो जाता है। बौद्ध दर्शन में आर्य अष्टांगिक मार्ग को स्वीकार किया गया है जिसमें घटक है – सम्यक्, ज्ञान, सम्यक संकल्प, सम्यक वचन, सम्यक कर्मान्त, सम्यक आजीव और सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि। सम्यक् संकल्प, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव और सम्यक् व्यायाम निश्चित रूप से व्यक्ति को सही प्रकार के कर्म करने की प्रेरणा देते हैं। निर्वाण प्राप्ति के बाद भी व्यक्ति को कार्यरत रहना चाहिए।

गौतम¹⁸ ने न्यायसूत्र में कर्म के बारह भेद माने हैं, जिनके नाम हैं – आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेतभाव, फल, दुःख और अपवर्ग। प्रवृत्ति का अर्थ है मन-वचन-शरीर का व्यापार। न्याय की तरह वैशेषिक भी कर्म के महत्व को स्वीकार करता है। वैशेषिक में सात पदार्थ माने जाते हैं – द्रव्य, गुण,

कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव। कर्म द्रव्य में आश्रित रहने वाला धर्म है। कर्म गुण से भिन्न है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा मन इन्हीं मूर्त द्रव्य-पंचक में कर्म की वृत्ति पायी जाती है। विभु द्रव्य जैसे आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा में कर्म सम्भव नहीं है। वैशेषिक के अनुसार कर्म पांच प्रकार के होते हैं – उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आंकुचन, प्रसारण तथा गमन।

सांख्य दर्शन में पुरुष केवल चेतन रूप है और सभी क्रियायें प्रकृति के क्षेत्र में सम्भव है। पर इसके बावजूद, सांख्य दर्शन पुरुष द्वारा कर्म करने के विधि पान को स्वीकार करता है। जीवन मुक्ति की अवस्था प्राप्त करने पर भी पुरुष को कर्मरत रहना ही पड़ता है। तत्वज्ञान के प्रभाव से अनारम्भ कर्मबीज तो खत्म हो जाते हैं और क्रियमाण, कर्म की भी उत्पत्ति नहीं होती, पर प्रारब्ध कर्म, जिनका फल आरम्भ हो चुका है, नष्ट नहीं होते। विदेह मुक्ति की दशा तक कर्म करना पुरुष की नियति है। इसलिए जीवन मुक्ति की अवस्था में भी पुरुष को कर्म से निरस्त नहीं होना चाहिए। बल्कि उसे प्रारब्ध कर्म का निष्पान करते रहना चाहिए, पर ये कर्म ज्ञान के कारण बन्धनकारी नहीं होते हैं

पातंजलि ने अपने योगशास्त्र में ईश्वर-प्रणिधान को साधना की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना है।¹⁹ ईश्वर प्रणिधान को तप तथा स्वाध्याय की तरह एक प्रकार का क्रियायोग माना जाता है। इसके अभ्यास से क्लेश युक्त चित्त सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। सभी कर्मों को ईश्वर के चरणों में अर्पित कर, सदैव ईश्वर भावना में रत रहना प्रणिधान है। पर कार्यो को करते रहने की अपेक्षा की जाती है, क्योंकि कर्म छोड़ना असम्भव है।²⁰ मीमांसा में तो कर्म सम्बन्धी एक नवीन दृष्टिकोण पाया जाता है। प्रभाकर आठ पदार्थों की सत्ता मानते हैं-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतंत्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। कुमारिल पदार्थों की संख्या पांच मानते हैं – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतंत्रता शक्ति, सादृश्य और संख्या। कुमारिल पदार्थों की संख्या पांच मानते हैं – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य तथा अभाव।

इस तरह कर्म को पूर्णतया स्वीकार किया गया है, पर इस कर्म के साथ शक्ति सिद्धान्त को जोड़ देने पर कर्मवाद की मीमांसीय व्याख्या हो जाती है। मीमांसा वैदिक कर्मकाण्ड को मानती है, पर कर्म तथा कर्मफल में अन्तराल रहता ही है। आज यज्ञ करने पर उसका स्वर्गरूपी फल तो अनेक वर्षों के बाद ही मिलता है। इस अन्तराल की व्याख्या मीमांसा “अपूर्व” नामक पदार्थ को मानकर करती है। अपूर्व का अर्थ है शुभ या अशुभ कर्म करने से उत्पन्न अदृष्ट शक्ति (अपूर्व)। यह शक्ति कर्म से उत्पन्न होती है और समय पर कर्मफल का निष्पादन करती है। यह मीमांसा का दृढ़ मत है।²¹ शंकर के वेदान्त में जीव को तात्त्विक रूप से ब्रह्म ही

माना गया है और मुक्ति का अर्थ है ब्रह्मभाव या ब्रह्म की अनुभूति को प्राप्त करना। यह मुक्ति भी दो प्रकार की है – जीवनमुक्ति और विदेह मुक्ति पहले जीवन मुक्ति आती है और बाद में विदेह मुक्ति। जीवन मुक्ति का अर्थ है इसी जीवन में मोक्ष अवस्था प्राप्त कर लेना।

यह मोक्ष अवस्था सम्यक् ज्ञान द्वारा ही प्राप्त की जाती है। जैसा कि हम देख चुके हैं, कर्म तीन प्रकार के होते हैं संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। तत्त्वज्ञान द्वारा संचित कर्मफल का नाश तथा क्रियमाण कर्म का निरोध हो जाता है। पर प्रारब्ध कर्म की पूर्ति भोग द्वारा ही सम्भव है। जैसे कुम्भकार का चाक दण्ड हटाने पर भी कुछ समय तक चलता रहता है उसी तरह प्रारब्ध भी चलता रहता है। उसके निःशेष होने पर विदेह मुक्ति प्राप्त होती है। पर जीवनमुक्ति की अवस्था में भी कर्म करते रहना आवश्यक है। ये कर्म किसी स्वार्थ साधन की दृष्टि से नहीं किए जाते, इन्हें नितान्त निरासक्त भाव से किया जाता है। इसलिए ये कर्म बन्धनकारी नहीं हैं।²² अतः स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय कर्म की महत्ता को स्वीकार करते हैं और कर्मशीलता की प्रेरणा देते हैं।

गीता के अनुसार कोई भी व्यक्ति बिना कर्म के नहीं रह सकता। मानसिक, शारीरिक कर्म तो निरन्तर चलते ही रहते हैं। कर्म के बिना जीवन का निर्वाह असम्भव है। हमारे सब कर्म प्रकृति के द्वारा निश्चित होते हैं।²³ प्रकृति के सत्व, रज और तम नामक गुणों से कोई भी व्यक्ति स्वतंत्र नहीं है। गीता यह महत्व की बात कहती है कि कोई भी कर्म पूर्णतया शुभ या अशुभ नहीं है। जिस तरह आग धुंए से ढंकी रहती है उसी तरह प्रत्येक कार्य में कुछ न कुछ दोष भी हो सकता है। इसलिए कर्म को केवल शुभ और अशुभ की श्रेणियों में वर्गीकृत करना सम्भव नहीं है।²⁴ अतः सबसे अच्छी बात यह है कि या तो ज्ञान निष्ठाभाव से कर्म किए जाए या कर्म के फल ईश्वर को समर्पित कर दिये जाए। गीता ने कर्म का विभाजन दो तरह से किया है। एक विभाजन के अनुसार कर्म के तीन रूप हैं, कर्म, अकर्म तथा विकर्म।²⁵ गीता के अनुसार कर्म का सम्बन्ध प्रमुख रूप से व्यक्ति की मानसिकता से है। इसलिए वाह्य संयम, जो मन में नहीं उतरा है, कर्म को खत्म नहीं कर सकता। बल्कि संयम की ओट में मानस में इच्छाओं तथा वासनाओं से उलझा व्यक्ति वास्तव में कर्म ही करता रहता है और जब तक इस तरह के कर्म का त्याग न हो, वह कर्म त्यागी या सन्यासी वास्तविक अर्थ में नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत जो व्यक्ति शरीर से कर्म करता है पर किसी भी तरह की मानसिक आसक्ति से जुड़ा नहीं है वह अकर्म कर रहा है, अर्थात् कर्म करते हुए भी कर्म नहीं करता। कर्म के पीछे उपस्थित वासनाएं तथा आसक्ति ही व्यक्ति को बांधती हैं।²⁶

निषिद्ध कर्म जैसे चोरी, कपट, हिंसा, प्रमाद, भ्रष्टाचार आदि का पूर्ण त्याग किया जाना चाहिए। आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से काम्य कर्मों का जैसे स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति आदि की प्राप्ति के उद्देश्य से किये जाने वाले कर्मों का भी त्याग करना चाहिए। भौतिक दृष्टि से जो वस्तु महत्वपूर्ण है वह आध्यात्मिक दृष्टि से अच्छी नहीं कही जा सकती। शास्त्र की दृष्टि से विहित कार्य जैसे दान, तप, आजीविका आदि के लिए कर्म निश्चित ही किये जाने चाहिए। पर इन कर्मों में भी फल की अपेक्षा न करते हुए कार्यरत होना चाहिए। वर्ण और आश्रम के कर्म भी इसी तरह सम्पन्न करना चाहिए। सभी प्रकार के कर्मों में सूक्ष्म वासना तथा अहंभाव को स्थान नहीं दिया जाना चाहिए। यदि ज्ञान द्वारा यह सब करना सम्भव न हो तो सभी कर्मों के फल ईश्वर के चरणों में समर्पित कर दिये जाने चाहिए। गीता इस तरह निष्काम भाव से कर्म की प्रेरणा देती है, इसे ही निष्काम कर्मयोग का नाम दिया गया।

गीता के अनुसार प्रत्येक कर्म के 5 घटक हैं – अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा तथा देव।²⁷ यह देव नामक घटक व्यक्ति के हाथ में नहीं होता। पर यही तत्व व्यक्ति के कर्म को सफलता या विफलता प्रदान करता है। यह कर्म के सिद्धान्त की विरोधी बात नहीं है क्योंकि ईश्वर पर विश्वास रखना भी तो एक कर्म ही है। इसलिए एक पराजित न होने वाली कर्मशीलता की प्रेरणा गीता में परिव्याप्त है।

गीता से प्रेरित होकर ही चार पुरुषार्थों का आदर्श भारतीय चिन्तकों ने अपनाया है। भारतीय संस्कृति में चार मान्य पुरुषार्थ हैं – धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष। इन पुरुषार्थों में सात्विक तथा राजस कर्मों का समन्वय है। इन पुरुषार्थों द्वारा जीवन का एक समन्वित दृष्टिकोण अपनाये जाने पर जोर दिया गया है। मनुष्य शरीर, मन तथा आत्मा का एकात्मक रूप है। इन आदर्शों द्वारा इस एकात्मकता को प्रकट करने का प्रयास किया गया है। इन पुरुषार्थों में साध्य और साधक मूल्यों का एक शानदार समन्वय है। पुरुषार्थों के माध्यम से व्यक्ति के व्यक्तित्व को पूर्णता प्राप्त होती है तथा व्यक्ति तथा समाज में एक प्रकार की भावनात्मक एकता प्रकट होती है। कर्तव्य बोध, ईमानदारी, स्वतंत्रता, न्याय, समानता आदि के मूल इन पुरुषार्थों से निःसृत होते हैं। मूल भावना यह है कि व्यक्ति और समाज में समरसता उत्पन्न होनी चाहिए, प्रवृत्ति और निवृत्ति में तालमेल बैठना चाहिए। वर्ण और आश्रम की संस्थाएं इन्हीं पुरुषार्थों के मूल रूप को उभारने का प्रयास करती हैं।

भारतीय कर्मवाद इसलिए आत्म-निश्चिततावाद को स्वीकार करता है। अपने प्रारब्ध कर्मों से बंधे होने पर भी हम अपने वर्तमान जीवन को मनचाहते ढंग से बिताने के लिए स्वतंत्र हैं और यह चुनाव ही हमारे आने वाले जीवन को भी

निश्चितता प्रदान करता है। भारतीय कर्मवाद का सिद्धान्त तर्क की दृष्टि से पूर्णतः संतोषप्रद है। यहां तक कहा जा सकता है कि इससे अधिक तर्कात्मक कर्म सिद्धान्त की कल्पना नहीं की जा सकती है। अध्यात्म और यथार्थ, निवृत्ति और प्रवृत्ति, व्यक्ति और समाज, इस जन्म तथा भूतपूर्व एवं आगामी जन्म सभी में एक मीठा समन्वय भारतीय कर्मवाद की विलक्षण विशेषता कहा जा सकता है।

भारतीय दर्शन तथा संस्कृति विचारशील कर्मवाद की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करते। महाभारत के शब्दों में क्रियावान मनुष्य ही पंडित है (यः क्रियावान स पंडितः)। भगवद्गीता के शब्दों में कर्म ही व्यक्ति का अधिकार क्षेत्र है (कर्मण्येवाधिकारस्ते)। भारतीय दर्शन तथा संस्कृति के मर्मज्ञ तुलसी के शब्दों में – “कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करहि सो तस फल चाखा।” जो लोग यह सोचते हैं कि भारतीय चिंतन निष्क्रिय भाग्यवाद का पोषक है वे भ्रांति के शिकार हैं।

डा० राधाकृष्णन के अनुसार – “कर्मफल सिद्धान्त इस बात को देखता है कि व्यक्ति किस सामग्री या किस परिस्थिति में पैदा हुआ है। यह जहां अतीत को निर्धारित मानता है, वहां अनागत को केवल सम्भावित। आदमी के अन्दर जो आध्यात्मिक तत्त्व है, वह उसे प्राकृतिक सीमा के अन्दर स्वतंत्रता प्रदान करता है। आदमी सहजवृत्ति केवल यंत्र नहीं है। उसकी अन्तरात्मा उन स्वाभाविक शक्तियों पर अधिकार जमा लेती है जो उसे बन्धन में रखने की चेष्टा करती है। जीवनरूपी खेल के ताश हमें दे दिये गये हैं। हमें उन्हें चुनना नहीं है। वे हमारे पूर्व जन्मों के कर्मों के अनुसार हैं। पर हम अपनी इच्छानुसार उनका उपयोग कर सकते हैं, जो खेल चाहें खेल सकते हैं और खेलते हुए जीत भी सकते हैं और हार भी सकते हैं,, यही स्वतंत्रता है।”²⁷

संदर्भ एवं स्रोतः

1. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसो ध्यजायत।
2. फलस्य वा पूर्वावस्था पूर्व नामास्तीति तर्क्यते। शांकर भाष्य 3/2/40
3. शतपथ ब्राह्मण 2/3/1/128
4. छः – 5
5. अथर्व 12/1/54
6. ऐतरेय ब्राह्मण 7/15
7. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो में सव्य आहितः अथर्व 7/5/2/8
8. तीन-9
9. त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः

- जफर तुर्फरीत्यादि पण्डितानां व्यः स्मृतम्। (सर्वदर्शन संग्रह)
10. मूढा जसमृत्यु ते पुनदेवापियन्ति। मुण्डक 1/2/7
मूढाः अन्धेनैव नीयमानाः अन्धाः कठ-1/2/5
 11. शांति पर्व 20/1 उद्योग पर्व 132/2
 12. श्रीमद्भागवत 11/5/5-8, 11/21/30, 32-34
 13. वृहदारण्यक 3/2/13 कठ 2/5/7
 14. मुण्डक 1/2/12
 15. वृहदा० 4/4/5
 16. मुक्तिकोपनिषद 2/5/6
 17. तं०सु० 8/5-16
 18. न्याय सूत्र 1/1/9 – प्रवृत्ति के तीन कारण हैं, राग, द्वेष और मोह। ये तीन प्रवृत्ति के प्रमुख कारण हैं। इसलिए गौतम ने 4/1/3 सूत्र में इनके सम्मिलित रूप को “बैराश्य” नाम दिया है।
 19. ईश्वर का उल्लेख योग सूत्रों में तीन बार आता है। 1/23, 2/1, 2/45
 20. ईश्वर के चरणों में कर्म फल समर्पण का अर्थ है कर्म फलों को स्वयं न भोगना।
 21. यागादेव फलं तद्धि शक्तिद्वारेण सिद्धयति।
सूक्ष्मशक्त्यात्मकं वा तत् फलमेवोपजायते।” – तन्त्र वार्तिक
 22. श्रुति स्मृति द्वारा विहित कर्म करने की व्यवस्था शंकर को मान्य है, क्योंकि शंकर के अनुसार चित्त शुद्धि के लिए कर्म करना आवश्यक है। पर उन कर्मों के फल को ईश्वर को समर्पित करना चाहिए। – नित्यैश्य कर्मभिः सांस्क्यमाणं विशुध्यति।
विशुद्धं षरुन्नमात्मालोचनक्षमं भवति। (गीता काव्य भाष्य 18/10)
 23. तीन-5, तीन-27
 24. अठारह-48
 25. चार-17
 26. चार-18
 27. हिन्दुओं का जीवन दर्शनः डा० राधाकृष्णन्, अनु० कृष्ण किंकर, पृ० 711